'अन्य होते हुए' चौथा सप्तक के अन्यतम कवि नन्दकिशोर आचार्य का नया काव्य-सकलन है। पाडुलिपि को पलटते हुए सहसा मेरा ध्यान एक कविता पर गया, ख़ासतौर से इन पक्तियो पर:

कभी-कभी
ख़याल दिलाती है कविता
कि मै हूँ

मुझे लगा कि ये वे पक्तियाँ हैं, जो पूरे संग्रह के चरित्र की ओर इशारा करती हैं। अगले पन्नो से गुज़रते हुए इस 'हूँ-पन' के बोध के कई स्तर उभरते गये। मेरे मन पर इस सग्रह का जो सामूहिक प्रभाव पड़ा वह यह कि कुल मिलाकर ये एक सोचते हुए मन की कविताएँ है– किसी धारणा के सूत्र से चलकर भाव के धरातल तक पहुचने वाली कविताएँ। कवि की मूल चिन्ता है सृजन के रहस्य की समस्या। अज्ञेय के बाद इस रहस्य के अधेरे मे प्रवेश करने का जोखिम शायद यहाँ पहली बार उठाया गया है। वस्तुतः, इस संकलन की अधिकाश कविताएँ सृजन के द्वद्व को उद्घाटित करने वाली कविताएँ हैं– यानी सृजन के बारे मे सृजन। यह एक तरह का आत्मिक सघर्ष है और यह सग्रह उसी का काव्यात्मक दस्तावेज़ है।

मुझे लगा कि इस सग्रह के स्वरूप को समझने की कुजी इसके शीर्षक मे ही निहित है। 'अन्य होते हुए' का रूपक रगमच से लिया गया है, यानी एक अभिनेता का अन्यथाकरण। कवि के शब्दो मे कहे तो 'आत्महत्या' के बाद उसका 'नया जन्म'। यहा 'अन्य' समकालीन विमर्श मे प्रचलित अन्य से सर्वथा भिन्न है। यह कला की अपनी समस्या का हिस्सा है और कवि ने इस समस्या से जूझने का साहस दिखाया है।

नन्दकिशोर आचार्य के कवि-रूप से जो पूर्व परिचित है, उन्हे इस सग्रह में ऐसा नया कुछ मिलेगा जो प्रौढ़ और परिपक्व है– और बेशक आस्वाद्य भी।

– केदारनाथ सिंह

अन्य होते हुए



वाणी प्रकाशन
21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002
फोन : 011-23273167, 23275710, 41562622
फैक्स : 011-23275710
e-mail : vani_prakashan@yahoo.com
vaniprakashan@gmail com
website : vaniprakashan.com

अन्य होते हुए

नन्दकिशोर आचार्य

वाणी प्रकाशन का लोगो
विख्यात चित्रकार मक़बूल फ़िदा हुसेन
की कूची से

सर्वाधिकार सुरक्षित

इस पुस्तक को पूरी तरह या आंशिक तौर पर प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना किसी भी इलेक्ट्रानिक, यांत्रिक, फोटो कापी, रिकार्डिंग अथवा ज्ञान-संग्रहण एवं पुनर्प्रयोग की किसी भी प्रणाली द्वारा किसी भी रूप में न कहीं पुनरुत्पादित किया जाय न प्रेषित या प्रस्तुत किया जाय।

ISBN : 81-8143-617-2



वाणी प्रकाशन
21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : 2007

© लेखकाधीन मूल्य : 125.00

आवरण का मूर्तिशिल्प : पी. राजीवनयन
सज्जा : वाणी चित्रांकन

शुभम ऑफसेट, दिल्ली-110032
द्वारा मुद्रित

ANYA HOTE HUE
Poems by Nandkishore Acharya

कृष्ण बलदेव वैद के लिए

अनुक्रम

प्रार्थना ज़ख़्म है कोई । 5.

प्रार्थना जख़्म है कोई

था किस का अधूरापन

'शुरू में शब्द था केवल'
—शब्द
जो मौन को आकार देता है
इसलिए मौन को पूर्ण करता हुआ।

उसी से बनी है यह सृष्टि।

पर सृष्टि में पूरा हुआ जो
था किस का अधूरापन?

(2000)

समुद्र-मंथन

हाँ, ठीक ही तो है
मथने से समुद्र यदि
कालकूट ही निकला सब से प्रथम
—ज़रूरी है
अमृत होने के लिए
अपने सभी विषों से मुक्ति—
और काल से बड़ा विष क्या है!

लेकिन अपने को मथ कर
यह जो सृष्टि
तुम ने निकाली है, प्रभु!

तब नारायण
क्या नीलकंठ मैं हूँ
तुम्हारे कालकूट का धारक
नीलकंठ नर!

(2000)

सपना आयेगा ही तुम्हें

अनस्तित्व का हो समुद्र चाहे
और शय्या काल की हो
अगर सोओगे
सपना आयेगा ही तुम्हें।

सपना वह मैं हूँ–
नहीं रहूँगा
अभी तुम जगोगे जब।

सोना सृजन है क्या
और जागना संहार?

किन्तु जागना चाहोगे ही क्यों
जब वह अपने को
मिटा देना है–
और क्या होता है कोई
अपने सपने के सिवा!

वह कौन है
जिस की खातिर
तुम यों अपने को मिटा दोगे?

कहीं अनचाहे ही तो नहीं
जागना ही होगा तुम को?

लेकिन ऐसी भी क्या
विवशता है तुम्हारी—
ईश्वर हो तुम तो !

(2000)

अमृत

कब तक यों जीता रहूँ
स्मृति में तुम्हारी—
हर साँस को करते हुए
अतीत?

जीने दो थोड़ा तो
भविष्य की खातिर भी
मुझ को।

अन्ततः मृत्यु है लेकिन
भविष्य भी!

स्मृति ही क्या तब अमृत है!

(1998)

क्या यह सम्भव है

क्या यह सम्भव है
लौटना चाहूँ मैं
यदि अब दरख़्त में?

उस के लिए पर होना पड़ेगा
कलम मुझ को—
लेकिन कलम होना भी
दरख़्त में लौटना कब है?
वह तो अपने में से
दरख़्त को लौटा देना है।

इसलिए, हे ईश्वर,
तुम्हें गर अपने में से लौटा भी दूँ
मैं मरूँगा नहीं।

मरना तभी होगा
जब दरख़्त में लौट पाऊँ—
और वह सम्भव नहीं है।

(1998)

भूल सकता था

भूल सकता था तुम्हें मैं
अगर तुम नहीं होती आँख
—वह आँख
देखा था मुझे जिस ने
और मैंने जिसे
खुद को देखते देखा।

(1998)

अभाव कैसे है वह

पेड़ में उगता है
छालों से आवृत्त एक अभाव
वीज में समाया था जो

पर अभाव कैसे है वह
जो है
उपस्थित?

मुझमें जो रूप है
किस का अभाव है वह?

तो क्या तुम
अभाव ही हो
उपस्थित सनातन!

(2000)

फूटी वह आवाज़*

अचानक फूटी वह आवाज़
मरुथली की आत्मा की तृषा
अपने-आप में जल
हो गयी जैसे
सृष्टि की मानिन्द।

माँडती हुई ख़ुद ही पर
तपती देह
अपना आप
लहरों में उन स्वरों को
खोजते हैं जो
मरुथली में खोये समुद्र को
जो कि वे ख़ुद हैं।

---

*अल्लाह जिलाई बाई का माँड सुनते हुए।

बगूला

हर ओर पसरा हुआ
एक सूनापन रेतीला;
कुछ भी नहीं है कहीं
कभी उठते बगूले के सिवा।

बगूला यह
शून्य का आकार है
या तोड़ता है उसे?

(2000)

क्या काल रेगिस्तान है कोई

तीखी सड़ाँध है
बिलबिला कर मरी भेड़ों की
हवा जिस में घुट रही है
किन्तु रेगिस्तान है निर्लिप्त
सोया हुआ।

अभी जागेगा
अपने में समो लेगा उन्हें
फिर सो जायेगा, निर्लिप्त।

क्या काल रेगिस्तान है कोई!
और हवा?

(2000)

यह सृष्टि यदि

यह सृष्टि यदि तुम हो
—नहीं तो यह है ही क्यों?
और मैं इस सृष्टि में हूँ
तो मैं क्यों नहीं हूँ तुम—
ऊब कर अमरत्व से अपने
होते हुए मुझ में
मरणधर्मा!

(2002)

एक और प्रकार

एक सन्ताप है तुम्हारा
वर्तमान
कारण उस अतीत के
जो कि मैं हूँ
और जिस की वजह से
मैं सरापा आत्मग्लानि हो गया हूँ।

यह भी क्या नहीं है लेकिन
प्यार का ही
एक और प्रकार!

(1998)

तुम देखोगी मेरी ओर

तुम देखोगी मेरी ओर
और मैं आँखें चुराऊँगा।

कभी जिन में उमड़ता था
प्यार का दरिया...
मैं नहीं देख पाऊँगा
उन आँखों में आत्मग्लानि
डबडबाती हुई...

नहीं, मैं तुम से
आँखें नहीं मिला पाऊँगा।

(1998)

मृत्यु को जीना

कितना क्रूर लगता है
यों जीते चले जाना
जीत लेती है उसे जब मृत्यु
जिस के लिए जीना ही
जीवन का होते रहना है।

तो क्या तब से
मृत्यु को ही जी रहा हूँ मैं?

मृत्यु को जीना लेकिन
जीवन का मृत्यु होना है
या मृत्यु का ही
हो जाना जीवन?

(2005)

तुम्हारी मुक्ति

तुम्हारे ही ख़याल में गुम
हो जाता हूँ मैं तुम
अपने होने से मुक्त होता हुआ।

होता हूँ लेकिन
अलग होने की व्यथा में
जब तुम साथ हो मेरे
—खुद से अलग देखता हुआ तुम को।

प्रभु! तुम्हारा होना भी
तब क्या व्यथा ही है तुम्हारे लिए—
और मैं—ख़याल हूँ जो तुम्हारा—
हूँ तुम्हारी मुक्ति!

(2000)

अपनी कविता को

कभी-कभी
ख़याल दिलाती है कविता
कि मैं भी हूँ
वरना अक़्सर वह
डुबोये रखती है मुझ को
तुम्हारे ही ख़याल में।

मैं हूँ ही क्या लेकिन
ख़याल के सिवा तुम्हारे?
क्या मैं कविता हूँ तुम्हारी?

अपनी कविता को कोई
क्या यों बरतता है?

(2002)

जितना व्यक्त हो

हाँ, अब जा कर समझा हूँ
क्यों हर बार
भाषा के पंजे से
बच निकलते हो तुम!

व्यक्ति निश्चय मरणधर्मा है
—भाषा में भी हो चाहे।

अव्यक्त रहना चाहते हो
इसलिए तुम सदा
भाषा की पकड़ से
कुछ-न-कुछ छूट जाते हुए।

पर जितना व्यक्त हो
क्या नहीं रहे उतना!

(2003)

वे जो नहीं रहते

वे जो नहीं रहते
क्या सचमुच मर जाते हैं?

कौन हैं वे तब
जो जीते रहते हैं हम में
और तब हम
क्या नहीं रहे होते हैं
जीते हुए उन को?

जीवन है ही क्या लेकिन
यदि कोई जिये नहीं उस में!

(2004)

नींद का सपना

आख़िर नींद आयी रात
कई दिनों के बाद—
पर सपने में जागता था मैं।

जाने कैसे उड़ गयी नींद वह
सपने में से
जिस का सपना
जागते में देखता था मैं।

(2000)

बसेरा

जहाँ तक आँख जाती है
खड़े हैं रूँख
हरियल, घने और छतनार
पर अभागे—
अपरिचित फड़फड़ाहट से परों की
किसी शाख पर
घोंसले का एक तिनका भी नहीं
पत्तियों में नहीं कोई चहचहाहट
सभी फल शर्मिन्दा हैं सर झुकाये।

रूँख केवल हरे में ही नहीं
वह बसेरे में है।

कहाँ है पाखी—
मुन्तज़िर मेरा हरा भी
हो सके जिस से बसेरा?

(2002)

प्रार्थना भी ज़ख़्म ही तो है

पेड़ कोई प्रार्थना है
धरती की
सूने अनन्त को बसाने के लिए
या हरा कोई ज़ख़्म उस का

हर प्रार्थना भी ज़ख़्म ही तो है
उसी का दिया—
सिंचता ख़ुद ही की व्यथा से
हरा होता हुआ—
अनन्त जिस में बसता है।

(2002)

अक्स का नाता नहीं कोई

हिलता है पानी
हिलता है पेड़ का अक्स
                    पानी में
नहीं हिलता पेड़ लेकिन
जिस का अक्स है वह।

पेड़ का अक्स से नाता नहीं कोई।

ठीक है, पानी में है अक्स
पर वह पानी का तो नहीं।

अक्स का नाता नहीं कोई
पेड़ से या पानी से
क्या वह तब
इसलिए हिलता है?

(2002)

शब्द यों फूल होते हैं

जाड़े की लम्बी पहाड़ी रात
बुझते अलाव का
धुँदला-सा आलोक
मद्धम स्वरों में
मुझ को मेरी ही कविता
पढ़ कर सुनातीं तुम!

शब्दों की ख़ामोश लय में
जज़्ब होता मैं।

शब्द यों फूल होते हैं।

(1998)

सम्मान

मत लो मुझे चाहे तुम
मेहँ को जैसे धरती लेती है
और खिला देती है
हरियल व्यंजनाओं में।

आओ तो सही लेकिन
अपने काँधों पर रो लेने दो मुझे
फूल रोने देता है रात को जैसे
और घुल कर निखर आता है
अपने लिए रात की व्यथा का
सम्मान करता हुआ।

(1998)

क्यों नहीं हूँ हरा

हरा पानी से है
और पानी हरे से।

मैं जो भरा हूँ पानियों से
क्यों नहीं हूँ हरा?

क्या हरा गया
इसलिए पनियाया हुआ हूँ?

(२००१)

या नहीं हूँ कुछ

दग्ध करता है निदाघ
                    मुझ को
बारिश हरा करती है।

मैं दग्ध हूँ
   या हरा?

या नहीं हूँ कुछ
जिस में जलता है आतप
जन हरा होता है!

भीम-बैठका

सभी चित्र आखेट के हैं
आश्चर्य—
एक भी नहीं प्रेम का!

वे भी जानते थे क्या—
प्रेम भी आखेट है आख़िर
किसी जीवन को यों ही
बेधता
तीखे शरों से! (2004)

तुम्हारा दुःख

मुझ से नहीं
खुद से भी छुपाती हो
और चाहती भी हो
तुम्हारे बिन कहे ही जान जाऊँ
मैं तुम्हारा दुःख।

मैं जो जान जाता हूँ
चाहता हूँ तुम न जानो–
दुःख वह मैं हूँ
तुम्हारा!

(2006)

दिलासा
(अपनी भतीजी हिना की स्मृति में)

कितनी साहसी थी वह मुस्कुराहट
और कितनी जीवन्त
अपनी अपंगता
और सुलते जाते फेफड़ों की
नियति को जानती हुई...

और कितनी मासूम पर कितनी समझदार
जो जानती थी
मेरे दिलासे का खोखलापन
फिर भी वह मुस्कुराती थी
—नहीं, व्यंग्य से नहीं—
जैसे मेरे दिलासे को
भरोसा देती हुई
कि मैं खुद भरोसा कर सकूँ
उस दिलासे पर
जो मैं उसे देता था।

(2005)

मैं नहीं रहूँगा मैं

वही तो है खुदाई

अभी पर्दा उठेगा
और मैं
नहीं रहूँगा मैं।

अर्से से जो करता रहा अभ्यास
अपने को अन्य होने दूँ
और उस अन्य होने में
रचूँ खुद को–
अपनी अनन्यता को–
तो है सृजन मेरा।

(2003)

अभिनय क्या आत्महत्या है

विस्मित देखते हैं लोग
मुझ को अन्य होते हुए–
और रेशा-रेशा मर रहा हूँ मैं
अनुपल जन्म लेता हुआ :
यही तो होता है हर बार।

अभिनय क्या आत्महत्या है
नये जन्म के लिए
जिस में अपने को खुद
जनता हूँ मैं–
जन कर मार देता हूँ!

(2003)

खुद को घटाते रहना

सब कुछ ।
मुझ में घटित होता है–
सब साज़िशें–सब मेल
सारी घृणा–सारा प्रेम
जटिल होतीं ग्रंथियाँ सारी
–कभी खुलतीं भी–
मुझी में रूप लेते हुए।

लौट जाते सब
नाटक ख़त्म होने पर
सूना छोड़ कर मुझ को–
मैं जो मंच हूँ केवल
जिसमें सब कुछ
घटित होता है
खुद उस के सिवा–
या यही है होना :
सब कुछ होने देने में
खुद को घटाते रहना!

(2003)

रूपाश्रित

हर वार देखता हूँ
नये रूप में ढलता हुआ खुद को
लौट आते हुए
फिर खुद तक।
और क्या होता है ईश्वरत्व
अपने नित-नये रूपों को
अनुभव करने के सिवा!

क्या यह सचमुच मैं होता हूँ
ढालता हुआ अपने को
नित-नये रूपों में
या कि रूप ही छा लेता है मुझे
मुझ को अपने में
ढाल लेता हुआ
और जो लौटता है मुझ में
कोई अन्य होता है
वह मैं नहीं
जो था ढलने से पूर्व।

मैं फिर वही

हर चरित्र आता है–
कुछ समय के लिए–
मुझ को कुछ और करता हुआ
गुज़र जाता है
मुझ में से हो कर।

और मैं फिर वही
छूँछे का छूँछा।

अगर सब अस्तित्व
तुम्हीं में घटित होता
और चुकता है
तुम भी फिर वही
हो रहते हो क्या–
छूँछे के छूँछे!

(2005)

मैं फिर वही

हर चरित्र आता है—
कुछ समय के लिए—
मुझ को कुछ और करता हुआ
गुज़र जाता है
मुझ में से हो कर।

और मैं फिर वही
छूँछे का छूँछा।

अगर सब अस्तित्व
तुम्हीं में घटित होता
और चुकता है
तुम भी फिर वही
हो रहते हो क्या—
छूँछे के छूँछे!

(2005)

सच-झूठ

कितना सच हो जाता हूँ
मैं
जो झूठ हूँ दरअस्ल
और झूठ कितना हो सकता हूँ
सच को दर्शाते हुए!

अभिनय का कमाल है यह
जो सच को झूठ
झूठ को सच बनाता है
—सिर्फ मेरी ख़ातिर ही नहीं
प्रेक्षक की भी ख़ातिर।

देखना भी क्या अभिनय है?

(2004)

वह कौन है ख़ाली

वह कोई और होता है
देखता है जो
उतरते हुए अपने को
नित-नयी भूमिका में
—ख़ाली करना होता है
अपने को अपने से
आप हो पाने की ख़ातिर।

मैं जो सम्मुख दीखता हूँ
—मंच पर—
भरा होता हूँ
तालियों, प्रशंसाओं, पुरस्कारों की
लालसाओं-ईर्ष्याओं से।

वह तब कौन है
ख़ाली
मुन्तज़िर
हर भूमिका के लिए?

(2005)

कुछ तो छूटता होगा

क्या सचमुच कुछ नहीं बदलता
मुझ में
किसी चरित्र के
मुझ में से होकर
        गुज़र जाने में?
कुछ तो छूटता होगा पीछे भी :
कोई स्मृति
किसी के हो पाने की
कभी अपने में—
निभाते हुए अलग ही
        भूमिका कोई।

मैं भी जब गुज़र जाता हूँ
तुम में से होकर
कभी तो जागती होगी
स्मृति तुम में भी, ओ विराट्,
हो पाने की मेरे!

(2004)

अपने पात्रों के बिना

उतरते हैं मुझ में
        सब पात्र
या खुद को तोड़-मोड़ कर
गढ़ता हूँ मैं उन्हें?

रचना तोड़ना-मरोड़ना है
या टुकड़े-टुकड़े
जोड़ना—
खुद को?

स्रष्टा होऊँ मैं
चाहे स्रष्ट :
अपने पात्रों के बिना
  सिर्फ अनस्तित्व।

(२००६)

मुझ में देह होता हुआ

जब वह उतरता है मुझ में
तो क्या होता हूँ मैं–
केवल देह कोई
किसी का अभिनय करती हुई
या वह देह मेरी हो जाती है
चित्त

उस का
जो मुझ में उतरता है

और जो उतरता है
कौन होता है–
कोई चरित्र होता है बस?
किसी की देह केवल?
या कोई चित्त
मुझ में देह होता हुआ!

(2003)

अभिनेता तो रहूँ

लगा ही दूँ टँगड़ी सचमुच
—थोड़ा ही ऊपर उठानी है टाँग—
मुँह के बल गिरोगे तो भूल जाओगे
सब अभिनय।
और मेरा नहीं
तुम्हारा ही माना जायेगा सारा दोष
—पूर्वाभ्यास में भी तुम
हमेशा चूक जाते थे उछलने में।

आखिर टँगड़ी लगा कर ही तो
छीनी थी तुम ने
भूमिका यह
जो करना चाहता था मैं।

ठीक है, निर्देशक के करीबी हो तुम
मानते हो उस के निर्देश सारे
यन्त्र की मानिन्द
जब कि मैं हर बार

कुछ-न-कुछ कर जाता हूँ
        निर्देशों से अलग
--लेकिन यह सोच कर ही तो
कि इस से और प्रभावी हो जायेगा
                    दृश्य।

आखिर अभिनेता हूँ मैं
और यह भूमिका मेरी है,
        मुझ को निभानी है
--निर्देशक को नहीं।

लेकिन जब टँगड़ी लगाऊँगा
तुम्हीं नहीं, मैं भी तो
गिर रहा हूँगा--अदीठ ही सही।

न मिले भूमिका कोई बड़ी चाहे
अभिनेता तो रहूँ--
बड़े से अधिक बड़ा है सार्थक होना।

(2003)

क्षमा-पर्व

पाँचाली

चले गये
सब चले गये हैं
छोड़ अकेला मुझ को
गलने इस हिम में।
पूरा जीवन साथ निभाया जिन का
उन में कोई सहधर्मा नहीं हुआ मेरा।
मेरी यही नियति है स्यात्–
मैं, जो एक धधकते अग्निकुंड से
उठी लपट-सी हहराती
इस अनन्त हिमसागर में
गल-गल कर लय हो जाऊँ।
गलना भी तो जलना है
और हिम एक आग
गल-गल कर बहती हुई।
एक आग जो धधक-धधक कर
सब कुछ जला डालती है
और एक जो गल-गल बहती है
सींचती हुई सब को–

यही तो है सचमुच होना :
स्वयं को गला कर भी सींचना जग को।

लेकिन जाते-जाते यह आरोप धर्म का—
मन ही मन केवल अर्जुन से ही
प्रेम रहा मुझ को।
हाँ, मुझे स्वीकार है
—आरोप हो तब भी।
किन्तु यह आरोप क्यों हो?
और यदि आरोप है तो भी
इस का दायित्व किस का है?
क्या तुम्हारा ही नहीं?
मेरा वर अर्जुन था केवल
सव्यसाची वह जिस ने मत्स्य-वेध के साथ
मेरे हृदय को भी वींध डाला था।
धर्मराज, लेकिन तुम!
तुम्हारे मन में क्यों कामना
लपट-सी उठी—
तुम सब भाइयों के—
मेरे जीवन को जला डालती हुई?
नहीं, माँ के शब्द नहीं थे केवल
वासना थी वह
तुम्हारी और तुम्हारे भाइयों की
जिस से काँप गयी असहाय विधवा माँ—
तुम लोग परस्पर लड़ न बैठो कहीं
जैसे लड़ मरे थे सुन्द और उपसुन्द।

किन्तु मैंने भी क्यों स्वीकार कर लिया

पाँचों की वधू होने का प्रस्ताव—
मैं क्यों कुछ बोली नहीं?
मेरे मन में भी क्या दबी थी लालसा?
मैं भी तो पाँचों को भोगूँगी
—धर्म, बल, पराक्रम, सौन्दर्य, बुद्धि को!
हाँ, जानती हूँ पूर्व जन्मों की कथाएँ—
कौन होगी जिस की
नहीं कामना की होगी एकाधिक पुरुषों ने
क्या वे अगले जन्मों में
उन सब से एक साथ ब्याही जायेंगी?

किन्तु सब को भोगने की लालसा
भ्रम थी मेरा
पैठ गया था मेरे अन्तर्मन में
—आत्मा में—अर्जुन का पराक्रम।
सच कहूँ, किसी को नहीं भोग पायी
मैं उस के सिवा—
किसी की सेज हो
केवल अर्जुन होता था मेरे साथ।
कर्त्तव्य था मेरा—पाँचों को तुष्ट करना—
वह किया भी मैंने।
किन्तु उस प्रेम का क्या करूँ
जो कर्त्तव्य का कारण बना मेरे?
धर्म! जिस अर्जुन को मैंने वरा—
और जिस के कारण तुम सब को—
उस के लिए मन के प्रेम को
कैसे मानूँ मैं पाप?

लेकिन तुम!
तुम्हारा सब ज्ञान, संयम, सत्यनिष्ठा, धर्म
कहाँ चले जाते थे
जब तुम चींथते थे देह मेरी
जानते हुए कि मेरी आत्मा
केवल अर्जुन की है?
तुम्हारे अन्तःकरण ने कभी
धिक्कारा नहीं तुम को?

हाँ, मैं जानती थी तुम्हारी इच्छा :
तुम ज्येष्ठ हो, इसलिए मैं प्रेम तुम से करूँ
—केवल देह सब को दूँ।
ज्येष्ठ होने के नाते वास्तविक पति
अपने को ही मानते थे तुम।
किन्तु पति का भी कुछ दायित्व होता है—
यह कभी जाना नहीं तुम ने।
तब भी नहीं जब कुरुसभा में
एकवस्त्रा मैं घसीटी गयी
नग्न करने को था दुःशासन,
जाँघ उघाड़े कुत्सित आमन्त्रण देता दुर्योधन
तब भी तुम नतशिर बैठे रहे—
दाँव पर लगाने का हो जिसे अधिकार
शील की रक्षा का दायित्व उस का नहीं?

तुम्हारा दोष नहीं केवल
इसी तरह नारी-पूजा
करता आया कुरुवंश—
कभी किसी नवयुवती को कामान्ध वृद्ध से बाँध,

कभी कन्याओं का अपहरण,
कभी किसी का प्रेम नष्ट कर,
कभी किन्हीं को सौंप अशक्त पुरुष की शय्या
कभी किसी का क्रय सदैव अन्धा रहने के लिए।
धन्य, धन्य, नारीपूजक कुरुवंश!
इसीलिए तो दुर्योधन, दुःशासन जैसे देव
सदा रमते रहते हैं यहाँ
और प्रकट होते रहते हैं
स्वयं धर्म ही
उस नारी की देह चींथ कर पूजा करने
जो, वह अच्छी तरह जानते हैं,
उन से किंचित् भी प्रेम नहीं करती।

हाँ, मुझ को तो था अर्जुन से प्रेम
किन्तु अर्जुन को मुझ से नहीं–
प्रिया नहीं भोग्या ही माना उस ने
मुझ को सदा
अन्यथा किसी अन्य को
कैसे भला सौंप सकता था मुझे
भले वह भाई ही हो!

पार्थ!
क्या कभी स्वत्व का भाव
जगा ही नहीं तुम्हारे मन में
मुझ को लेकर?
निस्संग बाँटते रहे मुझे
अपने सब भ्राताओं में–
और रमण करती उन से

मन में करती स्मरण तुम्हारा केवल!
धनंजय! ध्यान मेरा क्या आया होगा तुम्हें
कभी भी
साथ सुभद्रा के जब तुम होते थे?
नहीं, यह मेरा भ्रम है केवल।
प्रेम किया होता मुझ से यदि
कैसे बैठे रह सकते यों जड़वत्
द्यूतसभा में?
फट पड़ते जैसे फूट पड़ा था भीम।

हाँ, भीम! तुम ने ही लिया
अपमान का प्रतिशोध मेरे सदा।
दुर्योधन का जंघामर्दन, दुःशासन का रक्तपान
—सब ने जिस को धिक्कार कहा
लेकिन मेरे ही लिए किया तुम ने सब
—कि मेरे अन्तस् में जो दहकती थी आग
वह बुझ जाय।
एक-एक धृतराष्ट्र-पुत्र को खोज-खोज कर
आहुति देते रहे
मेरे प्रतिशोध-यज्ञ में तुम।
और विराट के यहाँ
बना दी लोथ महापापी कीचक की।
तुम्हें स्मरण है वह घटना
जब विराट ने धर्मराज के मुँह पर
पासा दे मारा था
रक्त नासिका का मैं ने तब
गिरने नहीं दिया धरती पर—
शपथ ले रखी थी अर्जुन ने :

सिवा युद्ध के धर्मराज का रक्त
गिरायेगा जो पृथ्वी पर
उस का वध कर देगा वह।
क्या भ्रातृभक्ति है!
सहन नहीं था जिस अर्जुन को
भ्रातृ-रक्त की एक बूँद भी गिरना
वह अर्जुन मुझ पर प्रहार के समय
बना सैरन्ध्री बैठा रहा।

मुझे स्मरण है—
वह प्रकृत आवेग तुम्हारा, वह निष्कलुष कामना।
प्राणों की चिन्ता खो कर भी पूरी करना
मेरी हर छोटी-सी इच्छा—
अर्जुन के वियोग में तड़प रही थी मैं
और तुम से मैंने पुष्पों की इच्छा की
—गन्धमादन पर्वत के पुष्पों की इच्छा
तुम लेकर आये उन्हें
सजाते रहे मुझे—
मैं तुम से सजती हुई
रही व्याकुल अर्जुन के लिए।

हाँ, मैं कृतज्ञ हूँ, भीम!
तुम्हीं से जाना है मैंने—
प्रेमी के लिए प्रिया क्या होती है।
किन्तु मैं क्षमाप्रार्थी हूँ :
कृतज्ञता, सम्मान, त्याग, विश्वास
सब मनुष्य के श्लाघनीय गुण हैं—
किन्तु प्रेम वह :

किसी एक के लिए वह तड़प, वह आकुलता,
किसी एक के लिए स्वयं का हो जाना
पुकार केवल,
सब कुछ विस्मृत
बस उमंग हो जाता है अस्तित्व!

यह नहीं कि कोई द्वन्द्व
नहीं उठता था मन में कभी
क्रन्दन करती थी अन्दर ही अन्दर--
तुम्हारे साथ हो कर भी
अर्जुन के ध्यान में हूँ--
उन्मुक्त हो कर नहीं दे पायी
तुम्हारे प्रेम का प्रतिदान--
बँधी-सी रही
किन्तु विवश, खिंचती ही जाती थी
अर्जुन की ओर।
प्रेम : वह क्या अपने वश में होता है
भीम!
तुम प्रेमी हो, समझ सकते हो,
युधिष्ठिर क्या समझे यह सब
उन्होंने प्रेम किया ही कब?

और वह कर्ण!
सूर्यपुत्र हो कर भी मन में भरा था कल्मष!
वेश्या तक कहा मुझ को
सच है, मैंने नहीं किया स्वीकार तुम को।
किन्तु निर्णय उचित था मेरा,
यह कुरुसभा में स्वयं तुम ने प्रमाणित कर दिया।

मुझे ले कर कहीं कोमल भाव कोई
जगा होता कभी मन में तुम्हारे
तो रोक सकते थे दुःशासन को—
भीष्म और द्रोण से भी अधिक
तुम पर निर्भर थे कौरव, हाँ राधेय!
नहीं, राधेय होते तुम
तो निश्चय ही समझ पाते
किसी हारी नारी की व्यथा—
लेकिन तुम नहीं थे राधेय
कुरुवंशी ही तो थे
—कानीन थे तो क्या—
जिन के लिए
मैं बस एक भोग्या थी—केवल वस्तु
और मैं ही क्यों—नारी मात्र।
अन्यथा भीष्म के होते
हो सकता था क्या भला —
कुरुवंश की कुलवधू का अपमान?

हाँ, पितामह
इसीलिए मैं नहीं रोक पायी थी
अपनी हँसी
जब शरशय्या पर लेटे-लेटे
राजधर्म का करते थे उपदेश आप।
मानती हूँ मैं—
हँसी मेरी नहीं थी
कुलवधुओं के अनुरूप
किन्तु आप के मुख से
वह उपदेश धर्म का!

दूषित अन्न ने मति भ्रष्ट कर दी थी—
आप ने कहा।
नहीं, पितामह!
अन्न तो वही खाता था विकर्ण भी।
आप क्यों नहीं समझे, पितामह—
स्वयं को कृष्ण का जो भक्त कहते थे—
कि धर्म वहीं है, जहाँ कृष्ण है?
अन्यायी राजा को तज देने का जो
उपदेश करते रहे
वे भी रहे उसी के साथ।
कृष्ण से आप ने क्यों नही यह सीखा—
धर्म पीड़ित के साथ खड़े होने में है
शास्त्रों के उलझे वितण्डा में नहीं।
आप के लिए भी
नारी भोग्या ही रही
—न सही स्वयं के लिए
पिता के लिए, भ्राताओं, पुत्रों और पौत्रों के लिए।
वह तो उपकरण है बस
उस का अपना क्या, सपना क्या!

हाँ, उपकरण थी मैं!
कुरुवंश ही क्यों
स्वयं मेरे पिता ने उपकरण ही माना मुझे—
अपने प्रतिशोध का उपकरण!
द्रोण का प्रतिशोध—
द्रोण के प्रतिशोध का प्रतिशोध—
एक प्रतिशोध-शृंखला बन गयी जैसे
जीवन-कथा मेरी।

मेरे तो जन्म का उद्देश्य ही प्रतिशोध था–
किसी के प्रेम का फल नहीं थी मैं
किसी की वाटिका का नहीं थी मैं पुष्प।
मैं एक काँटा थी–
किसी की घृणा और प्रतिहिंसा का काँटा–
द्रोण से अपमान के प्रतिशोध का काँटा।
उसी प्रतिशोध-यज्ञ से प्रकटी
हहराती नीलवर्णी लपट
अपने में लील लेगी जो
केवल द्रोण को ही नहीं, उन सब को
जिन्होंने साथ दिया उन का।
हाँ, समूचा कुरुवंश
इस प्रतिशोध-यज्ञ में आहुति न बन जाय
तब तक दग्ध अन्तस् शान्त कैसे हो
मेरे पिता का?
सच कहूँ–
पिता के लिए भी पुत्री नहीं थी मैं
उपकरण थी प्रतिशोध का केवल!

कैसे पिता थे आप
और कैसा था यह प्रतिशोध?
अपनी ही पुत्री को
पाँच की सेज कर देना!
क्या अन्तर था पिता
आप में और कुरुसभा में?
वहाँ भी वस्तु ही थी मैं
–किसी की सम्पदा
और यहाँ भी वस्तु!

इसलिए मेरे रोम-रोम में
रच गया था स्यात्
यह प्रतिशोध
घृणा कुरुओं से
और जो वढ़ आयी थी
सुन-सुन कर
अपने पतियों पर अत्याचारों की गाथा।
उसी का परिणाम होगा वह—
प्रतिशोध का वह वीज
मेरी हँसी से फूटा।
मय दानव का निर्मित वह माया-भवन
जहाँ सूखे में जल दिखता था और
जल में सूखा।
भित्तियाँ द्वार-सी लगती थीं
और द्वार भित्तियाँ।
ऐसे में गिर पड़ा सुयोधन तो किम् आश्चर्यम्।
किन्तु हँसी मैं—
अन्धे का वेटा अन्धा ही होगा—
और हँसे सव—स्वयं कृष्ण भी।
वह हँसना निश्चय था मर्यादा का उल्लंघन।
प्रतिशोध उसी का था वह द्यूत-यज्ञ।
और भरी सभा में मेरा वह अपमान!

तव से धधकता था हृदय—
धधकता था युद्ध का सपना।
आशंकित था मन—
कहीं समझौता नहीं हो जाय।
क्या होगा तव मेरी प्रतिज्ञा का?

भीम की शपथ का?
विना युद्ध के भला कैसे धुल सकेंगे केश?
कैसे फलवती होगी घृणा
विना कौरव-रक्त?

कौरव-पांडव युद्ध नहीं यह
था कुरुओं और पंचालों के वीच।
यह क्या संयोग था केवल?
पांडव-पक्ष का सेनापति पंचाल था—
मेरा सहजनमा धृष्टद्युम्न!
भीष्म के पराभव का मूल भी
पंचाल था—मेरा भाई शिखण्डी!
यही नियति थी स्यात्—
भीष्म और द्रोण
दोनों महारथियों का पतन
पंचालों से ही हो!

कैसा भयंकर महायुद्ध था वह!
अठारह अक्षौहिणी सेना!
समस्त जम्बूद्वीप सूना हो गया जैसे
पंचालों के प्रतिशोध-यज्ञ में सव स्वाहा हो गये
वचीं केवल विधवाएँ,
वृद्ध और वालक।

कितना नृशंस था व्रत वह
मेरे केश धोने का!
पुनः पुनः यह वात कहीं उठती थी मन में—
क्या मैं क्षमा नहीं कर सकती थी उन को?

बहुत कठिन है, लेकिन क्षमा बड़ी है
वास्तविक विजय है वह--
युधिष्ठिर जब कहते थे,
मैं उन को कायर कहती थी।
'क्षमा धर्म है' कहने वाले सब
कायर होते हैं क्या?
किन्तु धर्म है जीवन यदि
हिंसा अधर्म है।
लेकिन वह अपमान?
भरी सभा में निर्वसना कर देने के
कुत्सित प्रयास वे--
स्मृति उन की पुनः क्रोध से भर देती--
खुले केश उड़-उड़ कर
आँखों को ढँक लेते।

अन्ततः मेरे हृदय की आग ठण्डी हुई--
किन्तु कितनी दुर्मूल्य, कितनी क्षणिक थी
वह शान्ति!
कुरु ही नहीं, सब पंचाल भी मिट गये
द्रोण ही नहीं, द्रुपद भी
जल गये प्रतिशोध की उस आग में।
उन की लगायी आग
भस्म कर गयी स्वयं उन को।

मेरे मन की आग बुझी
लेकिन उस का अंगार सुलगता रहा
किसी के मन में।
द्रोण की मृत्यु छल से हुई

जिसमें सम्मिलित थे युधिष्ठिर भी—
'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो'
—सचमुच अश्वत्थामा का मानव
मर गया उसी दिन
बची प्रतिशोध की चिंघाड़ केवल!

कैसा विचित्र संयोग!
पांडवों का सेनापति पुत्र द्रुपद का
और कौरवों का अन्तिम सेनानी
अश्वत्थामा—आचार्य द्रोण का पुत्र!
क्या इसी तरह नियति होती है व्यंजित?

वह अन्धी कालरात्रि!
सोते हुए मेरे भाई को, पुत्रों को
खा गया अश्वत्थामा का प्रतिशोध।
वह प्राणांतक व्यथा!
किन्तु उस घनघोर दुःख में भी
फिर जल उठा प्रतिशोध का अंगार—
अन्नजल नहीं लूँगी मैं
अश्वत्थामा के रहते।
तब मैं नहीं जानती थी—
यह प्रतिशोध सृष्टि को भस्म कर देगा
सहस्रों सूर्यों की अग्नि वाले ब्रह्मास्त्र
परस्पर टकरायेंगे जब।
समूचा अस्तित्व क्रन्दन हो गया जैसे।
अन्ततः अर्जुन ने लौटा लिया ब्रह्मास्त्र
अश्वत्थामा पर लौटा पाया नहीं—
विवश हो छोड़ डाला उत्तरा के गर्भ पर।

और मैं!
क्या कर डाला मैंने?
कितना प्रलयंकर होता यह प्रतिशोध
समूची सृष्टि जिस में भस्म हो जाये।
और क्या मिल पाता मुझ को—
मेरे पुत्र और भाई लौटेंगे नहीं!
वेदना जो मैंने भोगी
उसे मेरे कारण कोई भी माँ क्यों भोगे
—अश्वत्थामा की माँ भी!
तभी माँ सिद्ध हूँगी मैं।

इसीलिए अश्वत्थामा को क्षमा कर दिया मैंने
—माँ ने।
उस की मस्तक-मणि छिन गयी लेकिन
माथे पर उभर आया घाव
अविरल बहेगा जो।
दण्ड है यह नियति का या उस का प्रायश्चित
अमर है अश्वत्थामा, अमर है यह घाव उस का।
उत्तरा के गर्भ पर—भावी जीवन पर—
किया है जो नृशंस प्रहार,
उस की पीड़ामय स्मृति
उसी के मस्तक में बस गयी—अनन्त तक।

हाँ, वेदना तो है मुझे भी, पर क्षमा भी है।
इसलिए क्षमा करती हूँ सब को—
कृष्ण तुम को भी—
जो सब कुछ जान कर भी खेल करते रहे।
कुरु-पंचालों का अधिकारी भी

अर्जुन का पौत्र होगा—युधिष्ठिर का नहीं—
सच कहूँ तो कृष्णार्जुन का पौत्र—
तुम्हारे ही भानजे का पुत्र!
पर नहीं अब क्रोध और प्रतिशोध
केवल क्षमा—जो जलने को गलने में
रूपायित करती है
—गल कर बहने में
तृषा बुझाने में, सब को सिंचित करने में।

इसलिए क्षमा देती हूँ सब को
—धर्म तुम्हें भी।
तुम अपने मार्ग पर जाओ।
सब अकेले हैं—सब को अपने मार्ग जाना है
यह क्षमा है जो सभी को जोड़ देती है—
अहं से मुक्ति है वह।

इस अनन्त हिमसागर में
गल-गल कर बहता रहे मेरा अहं
विलय होता रहे करुणा की नदी में
—इसी में सार्थक हूँ मैं।

बर्बरीक*

एक : आहत अहम् किसका था

नहीं, यह नहीं थी गर्वोक्ति
और न हेठी तुम्हारी—
तुम्हारा सभासद मैं सूर्यवर्चस
अकेला ही बहुत था
उन सभी दैत्यों के दलन के लिए
स्वयं तुम्हें जिस कारण
लेना पड़ा है अवतार।

इस में तुम्हारा अपमान कब था, प्रभु?
क्यों हुआ मैं शापित,
तुम्हारी सभा से च्युत,
दैत्या की कोख से जनमा—
कि पहुँचूँ फिर तुम्हारी ही सभा में
पर तुम्हारे हाथ से मर कर—
तभी मेरा अहम्
क्षय होगा!

पर यह आहत अहम् किस का है
जिस ने व्यर्थ यह सब जाल फैलाया?
और आज भी किस का अहम् है कुपित
जिस ने बस इसी कारण
मुझ निर्दोष का शिर काट डाला
कि फिर मैं अकेला ही बहुत था
इस अठारह अक्षौहिणी के लिए।

हाँ, जानता हूँ, समझता हूँ मैं
अन्यथा तुम भला इस युद्ध के नायक
कहाँ रहते?

---

*भीम पुत्र घटोत्कच का पुत्र बर्बरीक पूर्वयोनि में सूर्यवर्चा नामक यक्ष था, जिसे गर्वोक्ति के कारण विष्णु-सभा से च्युत होकर पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ा था। महाभारत युद्ध से पहले इस ने गर्वोक्ति की कि वह सम्पूर्ण सेना को एक पल में नष्ट कर सकता है—अपने मायावी बल पर वह यह कर भी सकता था। इस पर कुपित होकर कृष्ण ने इस का शीश काट डाला। जब इस शीश ने युद्ध देखने की इच्छा की तो कृष्ण ने उसे अमृत से सींचकर पास की पहाड़ी पर रख दिया। युद्ध के बाद इस शीश ने बताया कि सारा युद्ध केवल एक व्यक्ति—कृष्ण—लड़ रहा था।

दो : मेरे साक्ष्य की दरकार

यह कैसी कृपा है, प्रभु?

तुम्हारे कोप ने जो शीश
धड़ से अलग कर डाला—
उसी को सींच कर करुणा में
साक्षी बनाया है
इस युगान्तरकारी समर का
कि मैं देखूँ
प्रलयंकर रक्तप्लावन, भयंकर संहार
और जानूँ, बताऊँ सब को
कि तुम, हाँ केवल तुम ही
कर्ता हो
और हम सभी कठपुतलियाँ!

यह मुझ पर कृपा है
या तुम्हारी नियति की कोई विडम्बना—
प्रभुता को तुम्हारी
मेरे साक्ष्य की दरकार है!

तीन : तुम्हारा मर्म यदि मैंने

तुम तो सर्वशक्तिमान हो, प्रभु हो!
फिर यह कोप क्यों मुझ पर
जान भी लिया अनजाने
तुम्हारा मर्म यदि मैं ने—
तुम्हारे ही साथ था मैं तो?

क्या स्वयं की किसी
गोपन विवशता की खीझ है
यह क्रोध
जो उतरा है मुझ पर?

किन्तु तुम तो सर्वशक्तिमान हो,
प्रभु हो!

चार : असल नायक

हाँ, मैंने देखा है सारा युद्ध
अथ से अन्त तक
पहचानता हूँ उसे
जो इस का नायक है।

कम नहीं थी सेना
पूरी अठारह अक्षौहिणी—
जम्बू द्वीप के सब वीर इस में लड़े थे।
सभी थे—भीष्म, अर्जुन, द्रोण,
कृप, कर्ण, दुर्योधन, दुःशासन
अश्वत्थामा, भीम, भगदत्त, शल्य
सात्यकि आदि सब
—हाँ और अभिमन्यु!
बड़े-बड़े सूरमा, रथी, अतिरथी, महारथी
सभी तो लड़े थे अति विकटता से
—दृश्य-पट पर लड़ती हो जिस तरह
छायाएँ
कठपुतलियों की।

सच है, हाँ
कठपुतलियाँ थे सब
जिन की डोर थामे व्योम से
वह दिख रहा था मुझे
चतुर्भुज एक बाजीगर
अपने खेल से सन्तुष्ट
—वह भयंकर युद्ध उस को खेल ही तो था।

कितना क्रूर यह सन्तोष!
कितना क्षुद्र!

तुम क्या जानते हो, अरे बाजीगर
तुम्हारी भी डोर जिस के हाथ में है
उस अहम् को
—हाँ, भ्रम न पालो—
वही तो इस समर का असल नायक है!

इस डोर से निर्वन्ध हो पाओ
—यही है प्रार्थना मेरी।

(1983-84)
□□